11. Constituent Assembly of India : Constituent Assembly Debates (Proceedings) Vol-7, Nov-19,1948.
12. Mukharji, P. B. (1980): Place of Education under the Indian Constitution, a chepter cited in Shah, O. P. & Mukherji, Dhurjati (1980): India Today, Firma K.L.M. Private Limited, Calcutta, Page 56-70.
13. Mukharji, P. B. (1980): Place of Education under the Indian Constitution, Page 56-70.
14. Mukharji, P. B. (1980): Place of Education under the Indian Constitution, Page 56-70
15. Constitution of India (2002): with selective comments by P. M. Bakshi, Page ? .
16. Constitution of India (2002): with selective comments by P. M. Bakshi, Page ? .
17. Constitution of India (2002): with selective comments by P. M. Bakshi, Page ? .
18. Constitution of India (2002): with selective comments by P. M. Bakshi, Page ? .
19. Constituent Assembly of India: Constituent Assembly Debates (Proceedings), Vol-7, Nov-23, 1948.
20. विस्तार से देखें– http://www.education.nic.in/cd50years/g/12/Book12.htm
21. Govt. of India (1954): Report of the Committee on the Relationship between State Government and Local Bodies in the Administration of Primary Education, Publication No. 151, Ministry of Education, Delhi.
22. Govt. of India (1954): Report of the Committee on the Relationship between State Government and Local Bodies in the Administration of Primary Education, Page 24-39.
23. N.I.E.P.A. (2003): Implications of Elementary Education as a Fundamental Right, selected readings, 5-8 Aug, 2003, N.I.E.P.A., Delhi, Page 19.
24. CABE, 23rd meeting, 14-15 January, 1956, Delhi, विस्तार से देखें– http://www.education.nic.in/cd50years/g/12/26/toc.htm .
25. CABE, 24th meeting, 16-17 January, 1957, Delhi, विस्तार से देखें– http://www.education.nic.in/cd50years/g/12/25/toc.htm.
26. Govt. of India (1958): Report of the First Meeting of the All India Council for Elementary Education,10-11 March,1958, Publication No. 368, Ministry of Education, Delhi, Page 2 & 10.
27. Mukerji S. N. (1969): Education in India : Today and Tomorrow, Page 72.
28. The Delhi Primary Education Act -1960 : as cited in N.I.E.P.A. (2003): Implications of Elementary Education as a Fundamental Right, selected readings, 5-8 Aug, 2003, N.I.E.P.A., Delhi.
29. Shukla, P. D. (1983): .Administration of Education in India, Vikas Publishing House Pvt. Ltd., Delhi, Page 36-37.
30. Shukla, P. D. (1983): .Administration of Education in India, Page 34-36.
31. Govt. of India (1958): Report of the First Meeting of the All India Council for Elementary Education, Page 87.
32. Mukerji S. N. (1969): Education in India : Today and Tomorrow, Page 72.
33. Govt. of India (1958): Report of the First Meeting of the All India Council for Elementary Education, Page 10.
34. CABE, 23rd meeting, 14-15 January, 1956, Delhi, विस्तार से देखें– http://www.education.nic.in/cd50years/g/12/26/toc.htm.
35. Naik, J. P.(1979): The National Education Policy 1947-1978, विस्तार से देखें– http://www.education.nic.in/cd50years/g/T/T/toc.htm.
36. CABE, 23rd meeting, 14-15 January, 1956, Delhi, Appendix P, विस्तार से देखें– http://www.education.nic.in/cd50years/g/12/26/toc.htm.

सामंजस्य तथा वैचारिक गतिरोधहीनता की आदर्श स्थिति उत्पन्न हुई। फिर भी विशेष रूप से प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में जो उदासीनता दिखती है, वह इस बात की पुष्टि करती है, कि उदासीनता के कारण महज परिस्थितिजन्य दबाव न होकर उस वर्गीय सोच में निहित थे, जिसकी राष्ट्र के पुनर्निर्माण की महत्वाकांक्षी योजना में वंचितों की शिक्षा कोई आकर्षक मुद्दा नहीं थी।

उपरोक्त तालिका से मतदाताओं की उस संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि दिखायी देती है, जो ब्रिटिश शासन काल के दौरान भारतीय लोक चरित्र की बजाय वर्गीय चरित्र रखती थी। वयस्क मताधिकार ने लोकतांत्रिक भागीदारी का मार्ग भारत के विशाल निर्वाचक समूह के लिए प्रशस्त तो किया, किन्तु इसका मात्रात्मक विस्तार कोई खास गुणात्मक असर नहीं छोड़ पाया। मतदान करने वाली एक बड़ी आबादी ग्रामीण, निरक्षर तथा लगभग प्रत्येक दृष्टि से पिछड़ी थी। किसी प्रकार की शिक्षा के अभाव में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में भागीदारी की उसकी मंशा, प्रकृति और तद्जनित प्रभाव को सहज ही समझा जा सकता है। वंछित वर्गों की भागीदारी न तो लक्ष्यकेंद्रित थी और न ही राजनीतिक समझ पर आधारित थी। तथापि उसकी भागीदारी से वर्चस्वशाली वर्गों को सत्ता पर अपनी पकड़ मजबूत करने में सफलता अवश्य मिली। यही वर्गीय सोच वंचितों की निरक्षरता को राजनीतिक शक्ति वितरण की बाधा मानते हुए, उसे अपने वर्चस्व की स्थिरता तथा स्थायित्व के लिए बनाये रखना जरूरी मानती थी। वंचितों के लिए प्रावधान करने पर स्वयं के विपन्न होने का दावा करना, जिसकी चारित्रिक विशेषता थी। सरकार, चाहें वह केन्द्र सरकार हों या राज्य सरकारें, क्रियान्वयन के प्रभावी पक्षों को लेकर सामान्यतः ज्यादा गंभीर नहीं रहीं। अनिवार्यता के सिद्धांत को आग्रह उत्प्रेरक से स्थानापन्न कर दिये जाने को अनेक प्रशासनिक झंझट खत्म कर दिये जाने के अवसर के रूप में देखा गया। क्रियान्वयन पहले से ही इतना कमजोर था कि राज्यों में अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों के वर्ष 2000 तक पारित होते रहने के बावजूद आधिकारिक अमले की स्मृतियों से उनका विलोप हो चुका था। नलिनी जुनेजा ने 1996 में अपने शोध में पाया कि सर्वेक्षित किए गए 95 प्रतिशत शैक्षिक प्रशासकों को अनिवार्य शिक्षा के अधिनियमों के अस्तित्व की जानकारी ही नहीं थी। शेष 5 प्रतिशत को भी उनके बारे में टूटी–फूटी जानकारी भले हो, विस्तृत जानकारी बिलकुल नहीं थी।

1. Robinson, Philip (1981): Perspectives on the Sociology of Education : An Introduction, Page 05.
2. विस्तार के लिए देखें– Nelson, Rechard (year not mentioned): Prosperity, Freedom and The Depravity of Man : American Law and Birth of Public Education, as cited in Belok, Michel V. (year not mentioned): New History of Education, Edited, Anu Prakeshan, Meerut, India, Page 264-288.
3. Robinson, Philip (1981): Perspectives on the Sociology of Education : An Introduction, Page 182.
4. Desai, D. M. (1953): Universal Compulsory and Free Education in India, Page 30
5. Desai, D. M. (1953): Universal Compulsory and Free Education in India, Page 38
6. काश्यप, सुभाष (2001) : हमारा संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, पृष्ठ–60
7. Constitution of India (2002): with selective comments by P. M. Bakshi, Fifth Edition, Universal Law Publishing Co. Pvt. Ltd., Delhi, Page ? .
8. Constitution of India (2002): with selective comments by P. M. Bakshi, Page ? .
9. Constitution of India (2002): with selective comments by P. M. Bakshi, Page ? .
10. Constitution of India (2002): with selective comments by P. M. Bakshi, Page ? .

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

क्रियान्वित करने का अनिच्छुक प्रयास किया गया। सत्तारूढ़ दल से लेकर विपक्ष और जनता के स्तर तक इसका प्रतिरोध करने लायक दबाव भी न जुटा पाना, अनेक गंभीर प्रश्न खड़े करता है। वह भी तब जबकि सरकार आजादी के 20 वर्ष बाद तक देश को कोई आधिकारिक शिक्षा नीति प्रदान करने में असफल रही। वस्तुतः 1921 तथा 1937 की विधायन की सफलताओं तथा अनिवार्य शिक्षा को सिद्धांततः पूरी तरह स्वीकार कर लेने के बाद दलीय तथा जन उत्साह तेजी से ठंडा पड़ने लगा। चूँकि इस मुददे को लेकर कोई खास विपक्ष–विरोध संगठित ही नहीं हुआ था। अतः विपक्ष के अभाव में मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा की माँग कोई उपयुक्त राजनीतिक माँग रह ही नहीं गई थी।[34]

यह एक बड़ा कारण है कि आजादी के बाद राष्ट्रीय सरकार द्वारा विभिन्न प्रशासनिक तथा व्यावहारिक दिक्कतों के चलते अनुच्छेद 45 को लागू करने में असफलता के बावजूद विपक्ष तथा जनता दोनों में ही इसे एक सक्रिय राजनीतिक मुद्दा बनाने के लिए समुचित प्रतिरोध उत्पन्न नहीं हो सका। यद्यपि नई सरकार के विभिन्न कार्यों को लेकर विभिन्न राजनीतिक दल कठोर आलोचना दर्ज करते रहे, किन्तु अनिवार्य शिक्षा न तो उनकी आलोचना का विषय था और न ही चुनावी घोषणा पत्रों या राजनीतिक नारों और वायदों का। सैय्यदेन के शब्दों में–

''अभी जनता की ओर से मुफ्त तथा प्राथमिक शिक्षा की कोई व्यग्रतापूर्ण तथा वास्तविक माँग नहीं थी। लोग इसकी सिद्धांत रूप में स्वीकृति भर से संतुष्ट हो गए थे तथा इसे व्यवहार में लाते हुए देखने को उत्सुक नहीं थे।–––जब तक अनिवार्य शिक्षा की मुहिम को जन समर्थन प्राप्त नहीं होता, तब तक उम्मीद नहीं की जा सकती कि राजनीतिक दल इसमें समुचित रूचि लेंगे''[221]

1951, 1957 तथा 1962 के तीनों आरम्भिक लोकसभा चुनावों तक ऐसा कोई खास आंदोलन या सुगबुगाहट नहीं दिखती, जोकि सामाजिक, आर्थिक या शैक्षिक मुददों पर केंद्रित हो। तत्कालीन चुनावी परिदृश्य से भी इसकी पुष्टि के संकेत प्राप्त होते हैं। देखें तालिका[35]

तालिका लोकसभा चुनावों में दलीय तथा जन भागीदारी (1951–62)

क्रम	लोकसभा चुनाव वर्ष	कुल निर्वाचक	कुल मतदाता	मतदान प्रतिशत	राष्ट्रीय दल	क्षेत्रीय दल
1	पहली लोकसभा 1951	17,32,12,343	10,59,50,083	44.87	14	39
2	दूसरी लोकसभा 1957	19,36,52,179	12,05,13,915	45.44	04	11
3	तीसरी लोकसभा 1962	21,63,61,596	11,99,04,284	55.42	06	21

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम लोकसभा चुनावों में जिस उत्साह से राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय दलों ने भाग लिया, वह उतनी ही तेजी से अगले लोकसभा चुनावों के दौरान क्षीण पड़ गया। स्वतंत्रता आंदोलन में काँग्रेस की नेतृत्वकारी भूमिका का वर्चस्व, तृतीय विश्व के अन्य देशों के उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलनों की उपलब्धियों तथा नेताओं के करिश्माई व्यक्तित्वों की तरह ही भारत में भी अपना असर बनाये हुए था। पं0 नेहरू की शख्सियत तथा उनके प्रति जन विश्वास के चलते किसी अन्य विपक्षीय वैचारिक ध्रुवीकरण का माहौल ही नहीं बन सका था।

1962 के तृतीय लोकसभा चुनावों तक न केवल निर्वाचकों और मतदाताओं की संख्या में वृद्धि हुई, बल्कि 1957 के द्वितीय लोकसभा चुनावों की तुलना में तृतीय लोकसभा चुनावों में भाग लेने वाले राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की भी संख्या में वृद्धि हुई, तथापि केन्द्र व राज्य दोनों में एक दलीय वर्चस्व को कोई खास चुनौती नहीं दी जा सकी। जिससे विभिन्न नीतियों तथा कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए एक अद्भुत

हुआ, आधार को राज्यों के हवाले कर पुनर्निर्माण की शुरूआत शैक्षिक पिरामिड की चोटी से की गई। वस्तुतः किसी सुस्पष्ट शैक्षिक नीति के अभाव में सभी शैक्षिक निर्णय तात्कालिक रूप से राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक दबावों में लिए गए। जिसने परिवर्तन की बजाय यथास्थिति को बनाये रखा, वंचितों की माँगों को पूरा करने की बजाय सत्ताशालियों की माँगों को पूरा किया। इसने परिवर्तन की बजाय यथास्थिति को महत्व दिया।''[30]

60 के दशक में पड़ोसी राष्ट्रों से हुए मर्मांतक युद्धों के कारण भारत की प्रगति की दशा–दिशा पर असर तो पड़ा परन्तु फिर भी दो युद्धों के मध्य शिक्षा आयोग या कोठारी कमीशन 1964–66 का गठन भारत के विकास के प्रति कटिबद्ध दृष्टिकोण का परिचायक था। आयोग ने शिक्षा के अधिकांशतः लम्बवत तथा क्षैतिजाकार विस्तार में जाकर अध्ययन किया और संस्तुतियाँ दीं। आयोग ने प्राथमिक शिक्षा का विस्तार से अध्ययन किया। शैक्षिक नियोजन तथा प्रशासन को लेकर केन्द्र की भूमिका का विस्तार करते हुए आयोग ने संविधान द्वारा निर्देशित मुफ्त तथा अनिवार्य शिक्षा के प्रावधान को लागू करने को केन्द्र की जिम्मेदारी बताया।[215]

आयोग ने शिक्षा को राज्य सूची से हटा कर समवर्ती सूची में रखे जाने के मुद्दे का भी अध्ययन किया। आयोग के विचार में ऐसा करना संघीय ढाँचे के भीतर अनावश्यक रूप से केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा देगा। मौजूद ढाँचे के भीतर केन्द्र–राज्य सामंजस्य तथा भागीदारी की समस्त संभावनाओं का विदोहन शेष है, जिसको परखे बगैर केन्द्रीकरण करना घातक होगा।[216] आयोग के इसके अतिरिक्त केरल शिक्षा अधिनियम–1958 की तर्ज पर राष्ट्रीय शिक्षा अधिनियम तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति को लागू करने की जोरदार सिफारिश की।[31] आयोग ने शिक्षा को समवर्ती सूची में रखे जाने, राष्ट्रीय शिक्षा अधिनियम लागू करने अथवा राष्ट्रीय शिक्षा नीति घोषित करने के संदर्भ में तो सुझाव दिए, किन्तु अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों की संगति–विसंगति आदि पर एक शब्द भी नहीं कहा। आयोग भी अन्य एजेंसियों की तरह 14 वर्ष तक की आयु के प्रावधान को 6–14 वर्ष के लिए प्रावधान के रूप में परिभाषित कर रहा था।

जाहिर है कि शिक्षा के क्षैतिजाकार विस्तार की बाढ़ में शिक्षा का लम्बवत विस्तार महत्वहीन हो चला था। खासकर प्रारंम्भिक शिक्षा के संदर्भ में यह बात काफी हद तक ठीक थी। विभिन्न कार्यक्रमों, कार्य योजनाओं, कार्य नीतियों, समितियों तथा सम्मेलनों के बौद्धिक विचार–विमर्शों में प्रारंम्भिक शिक्षा के मुददे एक अनिवार्य सजावट की तरह इस्तेमाल किए जाने लगे। यद्यपि वार्षिक बजट भाषणों के एक अध्ययन में पाया गया कि विशेष रूप से 1951–1961 के दौरान बजट भाषणों में शिक्षा का विषय लगभग नदारद था।[32]

शिक्षा मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्टों के अध्ययन से पता चलता है कि विधि मंत्रालय की सहायता से अनिवार्य शिक्षा का आदर्श विधेयक तैयार करने वाली अखिल भारतीय प्रारंभिक शिक्षा परिषद, जिसका विशेष कार्य प्रारम्भिक शिक्षा को लेकर सरकार को सलाह देना था, को 1962 में समाप्त कर दिया गया।[33] उधर 1959 में योजना आयोग की सलाह पर अनिवार्य शिक्षा को 14 वर्ष की आयु तक उपलब्ध कराने के लक्ष्य को 6–11 वर्ष की आयु तक उपलब्ध कराने के लक्ष्य में विघटित किया गया, जिसे 1965–66 तक पाने का लक्ष्य रखा गया। इस प्रकार सरकारी नीति, योजनाएं तथा अनिवार्य शिक्षा अधिनियम सभी एकलक्ष्यी होकर संवैधानिक दायित्व से आधिकारिक रूप से पीछे हटने लगे।

समेकित रूप में देखें, तो सरकार की ओर से एक निहायत शक्तिहीन संवैधानिक निर्देश को कथित रूप से उच्च प्राथमिकता देते हुए घोर उदासीनता तथा विपन्नता से

जिनकी कोई स्पष्ट नीति या आधार मौजूद ही नहीं था। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के नाम पर कथित रूप से जो भी मौजूद था, वह और कुछ नहीं परम्परागत ब्रिटिश नीति का ही पचपन साल पुराना 1913 में घोषित तथा तब तक होता रहा विस्तारण था, जब तक कि सरकार को आजादी के दो दशक बाद शिक्षा नीति नामक चीज बनाने का भान नहीं हुआ। यहॉ यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि परम्परागत ब्रिटिश नीति प्रारम्भिक शिक्षा के रैखिक तथा अधिकतम सम्भव विस्तार की थी तथा शिक्षा का क्षैतिजाकार विकास सदैव उसकी संकीर्ण दृष्टि के परे ही रहा। हालाँकि प्रारम्भिक शिक्षा की कीमत पर क्षैतिजाकार विकास को लेकर स्वतंत्रता पश्चात् सरकार की तत्परता की शिक्षाविदों ने हमेशा सराहना की है। जे0पी0 नायक के शब्दों में –

''बड़े शैक्षिक निर्णय लेते समय उन वायदों और संकल्पों की अनदेखी करना सम्भव नहीं था, जो कि शिक्षा की राष्ट्रीय व्यवस्था को निर्मित करने के लिए (आजादी से) पहले किए गये थे (जैसे अनिवार्य शिक्षा और साक्षरता)। इसलिए नीति संबंधी निर्णय लेते हुए पुराने मुद्दों को कुछ ही महत्व दिया गया तथा क्रियान्वयन के स्तर पर उनकी अनदेखी भी की गई और अंततः वे एक पवित्र इच्छा भर बने रहे।''[27]

इस आधार पर यह समझना कुछ आसान हो जाता है कि आखिर योजना आयोग द्वारा प्रारंम्भिक शिक्षा के लिए समुचित वित्तीय व्यवस्था क्यों नहीं की जा सकी। इस संदर्भ में भारत के तत्कालीन शिक्षामंत्री तथा CABE के सभापति के रूप में डा0 अबुल कलाम आजाद के निम्न वक्तव्य उल्लेखनीय हैं–

''मैं यह स्वीकार करता हूँ कि जब (शिक्षा की) पुनरीक्षित योजना बनायी गई, तब मैं बहुत निराश हुआ (प्रथम योजना के लिए गये प्रस्ताव में 1000 करोड़ की धनराशि को योजना आयोग के सुझाव पर 500 करोड़ रू0 कर दिया गया था) .....526 करोड़ की साधारण रकम भी योजना के अंग के रूप में स्वीकार नहीं की गई। मैं इस बात को छिपाना नहीं चाहता कि इस बिन्दु पर मैं योजना आयोग के सदस्य के दृष्टिकोण से बिलकुल सहमत नहीं था। करीब 5000 करोड़ की योजना में से 500 करोड़ से कुछ अधिक धनराशि की शिक्षा के लिए माँग करना, न तो अधिक था और न ही नाजायज। मैं अपने प्रयत्न जारी रखूँगा और यह मेरा संकल्प है कि द्वितीय योजना में शिक्षा के लिए समुचित प्रवधान कराने का प्रयास किया जायेगा।''[28]

''हमारी एक समस्या यह रही है कि मेरे कुछ सहकर्मी (मंत्री) शिक्षा को विशुद्ध प्रान्तीय विषय समझते हैं, तथा इसलिए वे ऐसा नहीं सोचते कि केन्द्रीय सरकार को शिक्षा के लिए समुचित प्रावधान करना चाहिये। बल्कि जब योजना आयोग गठित हुआ, तो भी स्थितियाँ नहीं बदलीं। जब योजना का पहला खाका तैयार हुआ, तो शिक्षा को लगभग पूरी तरह अनदेखा कर दिया गया। लगता है कि वहाँ पर सबका नजरिया यह था कि हमें केवल वे विषय उठाने हैं, जोकि त्वरित परिणाम दे सकें। चूँकि वे मानते थे कि शिक्षा ऐसा नहीं कर सकती। अतः शिक्षा को पहले खाके से हटा दिया गया।''[29]

उपरोक्त दोनों ही वक्तव्य एक साथ, शिक्षा को लेकर गठित केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड के सभापति और शिक्षा मंत्री की उस असहाय स्थिति को दर्शाने के लिए पर्याप्त हैं, जिन पर केन्द्र व राज्यों के मध्य शैक्षिक मामलों को लेकर सलाह तथा समन्वयन और भारत की शिक्षा को आकार देने का दायित्व था। स्पष्ट है कि नेहरू की महत्वाकांक्षी औद्योगिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी पुनर्निर्माण की योजना में विद्यालयी शिक्षा के लिए कोई खास जगह थी ही नहीं। बल्कि आश्चर्य की बात तो यह थी कि भारत के पुनर्निर्माण की महत्वाकांक्षी योजना में लगभग हर क्षेत्र में आधार और आधारभूत ढाँचे को दुरूस्त कर विकास की प्रक्रिया को गति दी गई, वहीं शिक्षा के क्षेत्र में इसका ठीक उल्टा

उसके मंत्रिमण्डल से, जुटाना तो और भी कठिन था। प्रारंम्भिक शिक्षा के उद्भट विद्वान तथा सरकारी शैक्षिक नीतियों के विश्लेषणकर्ता जे0पी0 नायक के विचार में–

''शिक्षा से सम्बन्धित निर्णयों पर सरकार के औद्योगीकरण तथा विकास की नीतियों का तीखा असर रहा। सरकार की आरंम्भिक तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा विशेषकर विद्यालयी शिक्षा तथा उसमें भी विशेषकर प्रारम्भिक शिक्षा प्राथमिकता सूची में निम्नतम स्तर पर थी। उच्च पेशेवर तथा माध्यमिक शिक्षा के विकास की माँग विषेषकर समाज के उच्च तथा मध्ययम वर्ग से आ रही थी, जो इससे सर्वाधिक लाभान्वित होने वाला वर्ग था। यदि प्रौढ़ एवं वयस्क शिक्षा तथा सार्वभैमिक शिक्षा को वयस्क मताधिकार के साथ उच्च प्राथमिकता दी जाती तो इससे लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति जनता को हस्तांतरण करने में मदद मिलती। अतः एक को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया तथा दूसरे को पवित्र इच्छा मात्र बना दिया गया। इस प्रकार शिक्षा को न तो जनता के अधिकार के रूप में और न ही विकास के महत्वपूर्ण कारक के रूप में देखा गया, बल्कि इसे एक कल्याणकारी गतिविधि के रूप में देखा गया।''[25]

प्रारंम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में 1937 के बाद से जो भी निर्णय लिए गये उनका एकमात्र लक्ष्य प्रारंम्भिक शिक्षा विषयक नीतियों का इस प्रकार क्रियान्वयन करना था कि उसकी प्राप्ति शीघ्र हो जाये, जैसे सार्जेण्ट रिपोर्ट की 40 वर्षीय अवधि के बरक्स अखिल भारतीय शैक्षिक कॉफेंस ने 16 वर्ष तथा संविधान ने महज 10 वर्ष का ही लक्ष्य रखा। दूसरी ओर, जहाँ संविधान 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों को लक्ष्य कर रहा था, लगभग सभी अनिवार्य शिक्षा अधिनियम इसे घटा कर 11–12 वर्ष तक सीमित किए हुए थे। इस प्रवृत्ति को सरकारी समर्थन देते हुए दिसम्बर 1955 की योजना आयोग के शिक्षा पैनल की पहली बैठक में डा0 जी0सी0 घोष ने कहा कि *''यदि हम 11 वर्ष की आयु तक मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने के सीमित लक्ष्य को ध्यान में रखें तो कहीं अधिक सत्यनिष्ठ होंगे। बेहतर होगा कि हम 6–11 की शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा की परिभाषा के रूप में स्वीकार कर लें।''*[26]

इस प्रकार सांविधानिक रूप से बेहद सशक्त तथा विधायन के स्तर पर बेहद विस्तृत किस्म की जो तैयारी दिखती है, उसका हश्र अंततः प्रारंम्भिक शिक्षा को अनिवार्य तथा सार्वभौमिक बनाने के पूरे लक्ष्य के विगलन तथा विघटन में परिणत होता दिखता है। यद्यपि विघटन और विगलन की यह प्रक्रिया विभिन्न अन्य कारकों एवं कारणों से भी समर्थित रही।

सर्वप्रथम, यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि 1947 में आजादी से लेकर प्रथम चुनावों तक कॉग्रेस की स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान सशक्त भूमिका के चलते उसका सरकार पर प्रभावी नियंत्रण रहा। इसकी पुष्टि आगे 1952, 1957 तथा 1962 के तीनों लोकसभा चुनावों में मिले आकर्षक जनादेश से भी होती है। 1937 से 1967 तक भारत में सरकार पर नियंत्रण के मामले में यदि कुछेक वर्षों को छोड़ दें, तो कॉग्रेस पार्टी का ही वर्चस्व रहा। उसके पास नेहरू रिपोर्ट से लेकर युद्धोपरांत योजना निर्माण का खासा अनुभव था, तथापि इस सबके बावजूद वह 1968 तक स्वतंत्र भारत की प्रथम शिक्षा नीति तैयार करने में असफल या कहें कि अनिच्छुक बनी रही।

CABE की 23वीं बैठक[210] में जब सभापति के रूप में डॉ0 अबुल कलाम आजाद प्राथमिक शिक्षा आयोग की माँग पर आश्चर्य व्यक्त कर रहे थे और सरकार के तद्विषयक कार्यक्रमों की जानकारी दे रहे थे, तो उनके स्वयं के समेत बैठक में मौजूद किसी भी सदस्य ने स्वतंत्र भारत की किसी शिक्षा नीति के अस्तित्व को लेकर कोई विचार या प्रश्न तक नहीं उठाया था। अर्थात् डॉ0 आजाद वे उपलब्धियाँ गिनवा रहे थे,

उपरोक्त तालिका में प्रदर्शित आशाजनक स्थिति के बावजूद तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था में पहले से विद्यालयी शिक्षा से वंचित बच्चों में विद्यालयी पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चे निरंतर शामिल होते रहे तथा जनसंख्या की निरंतर वृद्धि ने विद्यालयी व्यवस्था से बाहर बच्चों की जनसंख्या में अभूतपूर्व वृद्धि की और यह एक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया थी। यद्यपि अखिल भारतीय प्रारंम्भिक शिक्षा परिषद ने अपनी पहली ही वार्षिक बैठक में यह प्रस्ताव पारित किया था कि–

''प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार को एक आसन्न संकट के रूप में देखना चाहिए तथा इस संवैधानिक निर्देश को शीघ्रातिशीघ्र पूरा करने के लिए सभी प्रयास करने होंगे।''[23]

इसमें कोई शक नहीं है कि भारत में प्रारंम्भिक शिक्षा के विस्तार को एक आसन्न संकट के रूप में कभी देखा ही नहीं गया। चूँकि केंद्र सरकार पर शिक्षा विशेषकर विद्यालयी शिक्षा का कोई दायित्व था ही नहीं और राज्य के नीति निर्देषक सिद्धांतों में जो कुछ था, वह राज्य के लिए बाध्यकारी नहीं था। इसके चलते विशेष रूप से प्रारंम्भिक शिक्षा का क्षेत्र केंद्रीय समर्थन तथा हस्तक्षेप से लम्बे समय तक वंचित रहा। 1951 में अखिल भारतीय शिक्षा सेवा को समाप्त कर केंद्र ने प्रांरम्भिक शिक्षा में हस्तक्षेप से पल्ला झाड़ लिया। जबकि उच्च शिक्षा में नीति निर्धारण, क्रियान्वयन तथा समन्वय में केंद्रीय दायित्व के चलते आजादी के तुरंत बाद 1948 में डा0 राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग तथा 1952 में डा0 मुदालियार की अध्यक्षता में माध्यभिक शिक्षा आयोग का गठन किया गया। 1882 के हंटर कमीशन तथा 1927 की हॉर्टोग समिति के अतिरिक्त प्रारंभिक या प्राथमिक शिक्षा के पूरे विस्तार में अध्ययन को लेकर स्वंत्र भारत में कोई भी आयोग गठित न किया जाना, सरकार की ततसंबंधी असंवेदनशीलता का परिचायक था। प्रारंम्भिक शिक्षा को लेकर सरकार द्वारा किसी भी आयोग के गठन न किए जाने की प्रखर आलोचना पर CABE की 14–15 जनवरी 1956 को दिल्ली में आयोजित 23वीं बैठक में सभापति मौलाना अबुल कलाम आजाद के सम्बोधन में प्रस्तुत वक्तव्य यहाँ उल्लेखनीय है–

''मैं समझता हूँ कि उन कतिपय घटकों में मौजूद गम्भीर गलतफहमी को दूर किया जाना जरूरी है, जो प्रायः यह पूछते हैं कि विश्वविद्यालयी शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा पर आयोग गठित करने से पहले प्रारंम्भिक शिक्षा के भविष्य पर ध्यान देने के लिए कोई विशेष आयोग क्यों नहीं गठित किया गया। ऐसी टिप्पणियों से मुझे आश्चर्य होता है। लगता है कि यह प्रश्न पूछने वाले उस घटनाक्रम को भूल चुके हैं, जोकि भारत में 20 वर्ष पहले हुआ था। आपको याद होगा कि पहले–पहल 1937 में गॉधी जी ने देश में सार्वभौमिक शिक्षा के प्रावधान के तरीकों तथा प्रारंभिक शिक्षा में बदलावों पर अपने विचार रखे थे। (जिसे अध्ययन के बाद बेसिक शिक्षा कहा गया) जिसे प्रांतीय कॉग्रेसी सरकारों ने प्रारंभिक शिक्षा के पैटर्न के रूप में स्वीकार कर लिया था। .....1947 में राष्ट्रीय सरकार ने राष्ट्रीय बेसिक शिक्षा कार्यक्रम के क्रियान्वयन पर सुझाव देने के लिए खेर समिति का गठन किया। .....इसलिए अब यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि भारत सरकार ने प्रारंभिक शिक्षा के प्रश्न पर समुचित ध्यान नही दिया है, तो यह आश्चर्य की बात है।''[24]

मौलाना आजाद जैसा दूरदर्शी तथा निष्ठावान व्यक्ति यह नहीं समझ सका था, कि आजादी के बाद आर्थिक–सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में जहाँ देश का वैज्ञानिक, तकनीकी तथा औद्योगिक विकास एक वैचारिक ध्रुव था, वहीं बेसिक शिक्षा का दो दशक पुराना पड़ चुका विचार इसका दूसरा वैचारिक ध्रुव था, जिनमें किसी सामंजस्य को स्थापित करना कठिन था और समर्थन, चाहे वह जनता से हो या स्वयं सरकार और

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

उपरोक्त सूची अनिवार्य शिक्षा विषयक विभिन्न अधिनियमों की भविष्य में भी संशोधित तथा परिवर्द्धित होती रहने वाली श्रृंखला में से एक है। इस दौरान राज्यों में जिस दूसरे किस्म के कानून आए वे शिक्षा अधिनियम किस्म के थे तथा केरल शिक्षा अधिनियम–1958 की तर्ज पर विकसित हुए थे। इसी के अनुरूप उड़ीसा में 1969 (1974 में संबोधित) तथा दिल्ली में 1973 में ऐसे शिक्षा अधिनियम लागू किए गए, जिसका विस्तार बाद में अंडमान–निकोबार में भी किया गया। यद्यपि इस किस्म के शिक्षा अधिनियम सभी राज्यों में लागू नहीं किए गये।

इन कानूनों को लागू करने का लक्ष्य सत्तारूढ़ दल की विचारधारा को लागू करना, सरकार पर शिक्षा के क्षेत्र में विस्तृत प्रशासनिक तथा आर्थिक जिम्मेदारियाँ ग्रहण करने की अनिवार्यता अथवा गैर–सरकारी शैक्षिक संस्थाओं के अध्यापकों द्वारा उनके लिए बेहतर कार्यदशायें सुनिश्चित करने के लिए सरकार पर दबाव डालना अधिक होता था।[21] फिर भी, राज्यों में लागू होने वाले अनिवार्य शिक्षा किस्म के कानूनों तथा विद्यालयी प्रक्रियाओं के विनियमितीकरण वाले शिक्षा अधिनियम किस्म के कानूनों दोनों ने ही शिक्षा के विस्तार को गति प्रदान की। स्पष्ट है कि संवैधानिक निर्देश भले ही 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों को अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने का रहा हो सभी अनिवार्य शिक्षा अधिनियम समान रूप से 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए इसकी व्यवस्था करने के दायित्व से वैधानिक रूप से सदा मुक्त रहे। इस तालिका से एक बात और भी स्पष्ट होती है कि जिन राज्यों में पहले से अनिवार्य शिक्षा कानूनों का क्रियान्वयन गम्भीरता से किया गया था, वहाँ अनिवार्य शिक्षा का विस्तार आजादी के बाद भी समान गति से चलता रहा। त्रावणकौर–कोचीन की पूर्व रियासत को छोड़ दें, तो ज्यादातर पूर्व रियासतों में अनिवार्य शिक्षा का विस्तार संतोषजनक नहीं रहा। यद्यपि नामांकन के ऑकड़े एक बेहद उत्साह भरी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं, तथापि पढ़ाई बीच में ही छोड़ देने वाले बच्चों की संख्या भी इतनी अधिक रही कि इस विस्तार से अधिक सकारात्मक परिणाम नहीं मिल सके। यह बात अलग है कि सरकारी तौर पर अनिवार्यता के दायरे के विस्तार तथा नामांकन वृद्धि के ऑकडों के द्वारा स्थितियों को आशाजनक बनाने का प्रयास जारी रहा। देखें तालिका[22]

तालिका : स्वतन्त्रता पश्चात् अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का विस्तार (1949–60)

वर्ष	अनिवार्यता के अन्तर्गत क्षेत्र		अनिवार्यता के अन्तर्गत विद्यालय		अनिवार्यता के अन्तर्गत शिक्षार्थी (लाख में)		योग
	शहर	गांव	शहर	गांव	शहर	गांव	
1949–50	385	18437	7583	23686	12.60	27.32	39.92
1950–51	396	20261	8350	25211	14.31	27.36	41.67
1951–52	640	32061	9622	26260	17.01	29.34	46.35
1952–53	632	33834	9958	26601	17.92	29.61	47.53
1953–54	893	35603	10679	26728	20.55	28.31	48.86
1954–55	998	39079	11685	31775	22.51	31.72	54.29
1955–56	1081	39276	12664	33554	24.66	36.22	60.88
1956–57	1194	53607	12890	45467	25.52	37.75	63.27
1957–58	1341	55168	13244	50823	27.27	41.08	63.35
1958–59	1199	56701	14173	51899	28.40	44.04	72.44
1959–60	1219	60478	15423	53440	31.93	47.87	79.81

14.	सौराष्ट्र प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1956

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि आजादी के बाद अनिवार्य शिक्षा अधिनियम लागू करने वाले ज्यादातर राज्य भूतपूर्व रियासतें थी, जहाँ या तो ऐसे कानून थे ही नहीं अथवा उनका अस्तित्व कागजों पर था। तो भी इससे अनिवार्य शिक्षा के विस्तार में असंतुलन को रोकने में कोई खास सफलता नहीं मिली। बल्कि किसी किस्म की एकरूपता में अभाव में ये अधिनियम ज्यादा उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। उपरोक्त तालिकाओ में परिलक्षित अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों के क्रियान्वयन में असंतुलन तथा राज्यों के मौजूदा अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों में परिवर्तन ने तत्काल एक आदर्श अनिवार्य शिक्षा अधिनियम निर्माण की माँग को भी सृजित किया।

उधर CABE की नियमित बैठको में भी अनुच्छेद–45 के क्रियान्वयन की विशालता को देखते हुए प्रारंम्भिक शिक्षा तथा बेसिक शिक्षा विषयक पेशेवराना संस्थाओं के गठन की जरूरत महसूस की गई। फलतः 1956 में राष्ट्रीय बेसिक शिक्षा संस्थान (NIBE)[197] तथा 1957 में अखिल भारतीय प्रारंभिक शिक्षा परिषद (AICEE)[17] का गठन किया गया। 10–11 मार्च, 1958 को दिल्ली में आयोजित अखिल भारतीय प्रारंभिक शिक्षा परिषद की पहली ही बैठक[18] में मध्य प्रदेश सरकार ने मुफ्त तथा अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए आदर्श अधिनियम बनाने की माँग की जिसकी परिषद ने अनुशंसा की।

अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों में एकरूपता लाने के लक्ष्य से शिक्षा मंत्रालय ने 1958–59 में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा पर आदर्श अधिनियम का ड्राफ्ट तैयार किया[200] तथा आगे चलकर यह सबसे पहले दिल्ली प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1960[19] के रूप में दिल्ली के संघशासित प्रदेश में 20 फरवरी 1960 से लागू हुआ। आगे इसी का अनुसरण करते हुये विभिन्न राज्यों ने अपने अनिवार्य शिक्षा कानूनों को या तो संशोधित किया अथवा बदल डाला। देखें तालिका[20]

तालिका दिल्ली प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1960 के अनुरूप निर्मित

संशोधित अनिवार्य शिक्षा अधिनियम

क्रम	अनिवार्य प्राथमिक/प्रारम्भिक शिक्षा अधिनियम
1.	आंध्र प्रदेश प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1961
2.	असम प्रारंभिक शिक्षा अधिनियम–1961
3.	बिहार तथा उड़ीसा प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1919, संबोधित–1959
4.	गुजरात अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1961
5.	हिमाचल प्रदेश अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1953
6.	मैसूर (कर्नाटक) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1961
7.	मध्य प्रदेश प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1961
8.	बम्बई (महाराष्ट्र) प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1947
9.	बम्बई नगर प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1970
10.	पंजाब प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1960
11.	उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा अधिनियम–1972
12.	पश्चिमी बंगाल (शहरी) प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1963
13.	पश्चिमी बंगाल प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1973
14.	दिल्ली प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1960

	8	पं0 बंगाल	✓	–
	9	असम	–	✓
संवर्ग बी के राज्य	1	हैदराबाद	–	✓
	2	जम्मू–काश्मीर	–	✓
	3	मध्य भारत	–	✓
	4	पैप्सू	–	✓
	5	सौराष्ट्र	–	✓
	6	त्रावणकौर–कोचीन	–	✓
	7	विध्य प्रदेश	–	✓
	8	मैसूर	–	✓
	9	राजस्थान	–	✓
संवर्ग सी के राज्य	1	अजमेर	✓	–
	2	अण्डमान निकोबार	–	✓
	3	भोपाल	–	✓
	4	बिलासपुर	–	✓
	5	दिल्ली	✓	–
	6	कच्छ	–	✓
	7	कुर्ग	✓	–
	8	हिमाचल प्रदेश	✓	–
	9	त्रिपुरा	–	✓
	10	मणिपुर	–	✓

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि ज्यादातर ब्रिटिश प्रांत तथा केंद्र शासित प्रदेश स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से अनिवार्य शिक्षा कानूनों का पालन करवा रहे थे। जबकि रियासतों में स्थिति सीधे राज्य सरकार के हाथों में थी। आजादी के बाद विभिन्न प्रांतों तथा रियासतों में मौजूद अनिवार्य शिक्षा कानूनों को संशोधित या नये सिरे से लागू किया गया। देखें तालिका[16]

तालिका : स्वतन्त्रता पश्चात् लागू अथवा संशोधित अनिवार्य शिक्षा अधिनियम

क्रम	अनिवार्य प्राथमिक / प्रारम्भिक शिक्षा अधिनियम
1.	असम प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1947
2.	बम्बई प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1947
3.	कोचीन मुफ्त तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1947
4.	मध्य प्रदेश अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1950
5.	अजमेर प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1952
6.	मद्रास प्रारंभिक शिक्षा अधिनियम–1952
7.	हैदराबाद अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1952
8.	विंध्य प्रदेश प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1952
9.	हिमाचल प्रदेश अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1953
10.	असम बेसिक शिक्षा अधिनियम–1954
11.	पैप्सू अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1954
12.	भोपाल राज्य अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1956
13.	मध्य प्रदेश प्राथमिक शिक्षा अधिनियम–1956

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

इन्ही असंगत किस्म की संवैधानिक तैयारियों के साथ स्वतंत्र भारत में प्रारम्भिक शिक्षा के विकास की यात्रा आरम्भ होती है, जिसमें केन्द्र की तुलना में राज्यों पर कहीं ज्यादा दायित्व आरोपित था। शिक्षा के राज्य सूची का विषय होने के कारण आजादी के बाद राज्यों में प्रारम्भिक शिक्षा को लेकर दो प्रकार के कानूनों का विकास हुआ। पहली श्रेणी में अनिवार्य प्रारम्भिक/प्राथमिक शिक्षा विषयक कानून आते हैं, जिनकी जड़ें औपनिवेशिक संवैधानिक विकास में जमी थीं, जबकि दूसरे किस्म के कानून केरल शिक्षा अधिनियम 1958 की तर्ज पर बाद में कुछ राज्यों में लागू किए गये।

1919 की द्वैध शासन व्यवस्था ने विभिन्न ब्रिटिश प्रान्तों में अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों को उद्भूत किया, जिसका अनुसरण अनेक रियासतों ने भी किया। इसके तहत अनिवार्य शिक्षा को लागू करने का दायित्व स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को सौंपा गया। किन्तु अपेक्षित परिणाम न मिलता देख 1935 की प्रान्तीय स्वायत्तता की व्यवस्था में लगभग सभी प्रान्तों में अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों में संशोधन किए गये तथा स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के अधिकारों में भारी कटौती की गई, जोकि आजादी के बाद तक चलती रही। उधर कुछ एक उन्नतशील रियासतों को छोड़ दें, तो ज्यादातर रियासतों में अनिवार्य शिक्षा अधिनियम थे ही नहीं अथवा सिर्फ कागजों पर मौजूद थे।

आजादी के बाद जिस भारत राज्य का प्रादुर्भाव हुआ, उसमें ब्रिटिश प्रान्तों तथा विभिन्न रियासतों के अद्भुत विलय के चलते प्रान्तों का उत्तरोत्तर पुनर्गठन किया गया। जिसके परिणामस्वरूप राज्य सरकारों तथा स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के मध्य अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों के प्रभाव, क्षेत्र विस्तार, तथा क्रियान्वयन के अनेक आर्थिक–प्रशासनिक मुद्दे उभरने लगे, जिनका केन्द्र बिन्दु राज्यों व स्वशासन की संस्थाओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करना था। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (CABE) की बैठकों की कार्यवाही से इसका विस्तृत स्वरूप प्राप्त होता है। 1951 में त्रिवेन्द्रम में आयोजित CABE की 18वीं बैठक[193] में बिहार सरकार ने इस समस्या को उठाया तथा 1952 में CABE की दिल्ली में आयोजित 19वीं बैठक में CABE की ही समिति द्वारा किए गऐ तद्विषयक व्यापक अध्ययन[194] पर चर्चा की गई तथा बोर्ड की संस्तुतियों को राज्य सरकारों को भेज दिया गया। राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों तथा नवाचारों का हवाला देते हुए तैयार की गई ये रिपोर्ट उस बौद्धिक सक्रियता का अच्छा नमूना है, जो आजादी के बाद शैक्षिक पुनर्निर्माण विशेषकर प्रारंभिक शिक्षा के प्रति निष्ठावान तथा कटिबद्ध थी। रिपोर्ट के अनुसार आजादी के बाद शिक्षा राज्य सूची का विषय होने के कारण इसका दायित्व विभिन्न राज्यों में या तो स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के हाथ में था अथवा सीधे राज्यों के पास था। देखें तालिका[15]

तालिका : विभिन्न राज्यों में अनिवार्य शिक्षा के क्रियान्वयन का दायित्व निर्धारण

		राज्य का नाम	दायित्व स्थानीय संस्थाओं को	दायित्व राज्य के पास
संविधान के लागू होने के समय	1	बिहार	✓	–
	2	बम्बई	✓	–
	3	मध्य प्रदेश	✓	–
	4	मद्रास	✓	–
	5	उड़ीसा	✓	–
	6	पंजाब	✓	–
	7	उत्तर प्रदेश	✓	–

पढ़ाना गैरवाद योग्य अधिकार या कहें कि राज्य का नीति निर्देशक तत्व था। दोनों में शाब्दिक तारतम्य के परे न्यायिक हस्तक्षेप के आधार पर कोई व्यावहारिक सहसंबंध स्थापित करना तत्कालीन परिस्थितियों में ही आगे भी करीब 43 वर्षों तक संभव नहीं होने वाला था।

वस्तुस्थिति यह थी कि बालश्रम के चंगुल से बचने वाले सभी न सही किंतु बहुत से बच्चे गरीबी के चलते राज्यों द्वारा प्रायोजित अनिवार्य शिक्षा के ठोस तथा व्यापक आयोजन में जगह पाने की अंतहीन प्रतीक्षा के बाद, अंततः पुनः बालश्रम के दुष्चक्र में अगले कई दशकों तक फंसते रहे। जो इस बालश्रम के व्यूह से कभी निकल ही न सके, उनकी दुरावस्था का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। डा0 अम्बेडकर जैसे प्रखर दलित नेता द्वारा दो असंगत प्रावधानों में स्थापित किए विलक्षण सहसंबंधों का वास्तविक खामियाजा उन्ही वंचितों, आदिवासियों तथा महिलाओं को उठाना पड़ा, जिनके उत्थान तथा सशक्तिकरण के लिए डा0 अम्बेडकर प्रयत्नशील थे। इस संदर्भ में तीन काल्पनिक स्थितियों पर विचार करना होगा–

एक : जबकि बालश्रम का निषेध तथा अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान दोनों ही मौलिक अधिकारों में स्थापित होते।

दो : जबकि बालश्रम का निषेध तथा अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान दोनों ही गैरवाद योग्य अधिकारों/राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों में स्थापित होते।

तीन : जबकि बाल श्रम का निषेध गैरवाद योग्य अधिकारों/राज्य के नीति निर्देषक सिद्धांतों में तथा अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान मौलिक अधिकारो में स्थापित होता।

उपरोक्त तीनों में से, पहली स्थिति में दोनों प्रावधानों को समान संवैधानिक स्थान प्राप्त होता। ऐसे में डा0 अम्बेडकर को या तो उपरोक्त वक्तव्य देने की नौबत ही नहीं आती अथवा वे दो सुसंगत प्रावधानों में ही आदर्श सहसंबंध स्थापित करते। दूसरी स्थिति उस वास्तविकता की ही पुष्टि करती है, जिनमें अगले करीब 50 वर्षों तक बच्चों की विशाल आबादी न तो बाल श्रम से ही बच सकी और न ही राज्य ने उनकी शिक्षा को लेकर कोई विशेष सक्रियता दिखाई। सरकारें बालश्रम के विरूद्ध संरक्षा में सफल नहीं रहीं, जबकि आजादी के बाद से ही अनिवार्य शिक्षा किसी भी केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार और राजनीतिक दल के ऐजेन्डे में शामिल नहीं रही। अनिवार्य शिक्षा से परे यह स्थिति सीधे–सीधे बालश्रम विरोधी मौलिक अधिकार की प्रभाविता पर ही प्रश्न चिह्न लगा देती है।

तीसरी स्थिति को यदि ध्यान से देखें तो इसमें मौलिक अधिकार के रूप में बालश्रम के विरूद्ध संरक्षण की व्यावहारिक स्थिति इसे नीति निर्देषक सिद्धांतों को लेकर सरकारी उदासीनता को ही परिलक्षित करती है। यानि इसकी स्थिति मौलिक अधिकार होने के बावजूद नीति निर्देशक सिद्धांत जैसी रही। किन्तु अनिवार्य शिक्षा यदि इसके स्थान पर मौलिक अधिकारों में स्थापित कर दी जाती, तो शायद सारी ही स्थितियां पलट जाती। इससे न केवल शिक्षा के पक्ष में सरकारों पर भारी दवाब पड़ता, बल्कि गरीबी से मजबूर विशाल आबादी द्वारा किसी अन्य विकल्प के अभाव में बच्चों को श्रम कार्यों में धकेलने की विवशता उतनी हावी नहीं रहती। अनिवार्य व निःशुल्क शिक्षा का मौलिक अधिकार सरकार पर इसकी व्यवस्था करने का तथा जनता पर इसे पाने की प्रेरक शक्ति का कार्य करता। सहज ही बाल श्रम के प्रति सरकारी उदासीनता के बावजूद बालश्रम की स्थिति अपेक्षाकृत कमजोर रहती तथा शिक्षा का विस्तार उस चेतना को पैदा करता जो देश के विकास के लिए जरूरी थी।

होगी, किन्तु ऐसा तभी तक होगा जब तक संसद द्वारा बनाई गई विधि प्रभावी रहती है।''[10]

अनुच्छेद–253 इस अध्याय के पूर्वगामी उपबन्धों में किसी बात के होते हुए भी, संसद को किसी अन्य देश या देशों के साथ की गई किसी सन्धि, करार या अभिसमय अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, संगम या अन्य निकाय में किए गए किसी विनिश्चय के कार्यान्वयन के लिए भारत के संपूर्ण राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बनाने की शक्ति है।[11]

भाग 11 का प्रथम अध्याय केन्द्र–राज्य विधायी संबंधों के क्षेत्र में सातवीं अनुसूची की तीनों सूचियों में वर्णित विषयों के संदर्भ में विधि निर्माण को लेकर संसद को शक्ति सम्पन्न बनाता है। यह विशेष रूप से समवर्ती सूची के किसी विषय पर राज्यों की तुलना में केन्द्रीय कानून को प्राधिमान प्रदान करता है। साथ ही अंतर्राष्ट्रीय संधियों को लेकर भी यह संसद को विषेष शक्तियां प्रदान करता है। उस समय शिक्षा राज्य सूची का विषय थी तथा शिक्षा को लेकर ऐसे भी हालात उत्पन्न नहीं हुऐ थे कि केन्द्र शिक्षा को लेकर कोई कानून बनाता या अध्यादेश जारी करता। जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का प्रश्न है, शिक्षा के विषय में इनकी प्रासंगिकता तथा इनके अधीन सरकार की कानून बनाने की कोशिश अगले चरणों में चर्चा की विषयवस्तु है।

इस सबके अतिरिक्त एक अन्य संवैधानिक प्रावधान की चर्चा किए बगैर स्वतंत्र भारत की शिक्षा विषयक संवैधानिक तैयारी की तस्वीर को समग्रता में देखना कठिन है। संविधान के भाग तीन में वर्णित मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत शोषण के विरूद्ध अधिकार का शिक्षा के संदर्भ में विशेष तथा पूरक महत्व है।

<u>भाग तीन : मौलिक अधिकार</u>

अनुच्छेद–23(1) मानव का दुर्व्यापार और बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य बलातश्रम प्रतिषिद्ध किया जाता है और इस उपबन्ध का कोई भी उल्लंघन अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।[12]

अनुच्छेद–24 14 वर्ष से कम आयु के किसी बालक को किसी कारखाने या खान में काम करने के लिए नियोजित नहीं किया जाएगा या किसी अन्य परिसंकटमय नियोजन में नहीं लगाया जायेगा।[13]

उपरोक्त दोनों ही मौलिक अधिकार विशेष रूप से 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों को शोषण तथा दुर्व्यापार से संरक्षित करने के ऐसे उपाय हैं, जिनका अनुच्छेद 45 से सीधा संबंध है। इस संदर्भ में डा0 अम्बेडकर ने संविधान सभा में यह स्पष्टीकरण दिया कि–

''संशोधन के बाद 36वां अनुच्छेद (अनुच्छेद–45) इस प्रकार हो जाएगा कि प्रत्येक बच्चा शैक्षिक संस्था में 14 वर्ष की आयु तक प्रशिक्षण के अन्तर्गत रखा जाये। यदि श्री नजीरूददीन अहमद अनुच्छेद 18 अनुच्छेद 24 का संदर्भ लेते तो उन्होने पाया होता कि अनुच्छेद 18 (अनुच्छेद–24) के तहत 14 वर्ष तक की आयु के किसी भी बच्चे को काम में लगाने से रोका गया है। स्वाभाविक है कि यदि 14 वर्ष से कम आयु का बच्चा काम नहीं करेगा तो उसे किसी शैक्षिक संस्था में रखना ही होगा। वही अनुच्छेद–36 (अनुच्छेद–45) का उद्देश्य है।''[14]

निश्चित रूप से अपनी वाक्चातुरी तथा तक्रशीलता से डा0 अम्बेडकर ने सदन को संतुष्ट कर दिया था, तथापि यह आश्चर्य की बात है कि स्वयं डा0 अम्बेडकर जैसा मंझा हुआ संविधानविद् भी यह न समझ पाया कि 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों को काम से रोकना संरक्षात्मक मौलिक अधिकार था, जबकि उन्हें 14 वर्ष की आयु तक

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

संविधान के ग्यारहवें भाग के प्रथम अध्याय में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विधायी संबंधों की चर्चा की गई है। जिसके तहत केन्द्र तथा राज्यों के मध्य कानून बनाने की शक्ति का सुस्पष्ट निर्देश संविधान की सातवीं अनुसूची में वर्णित तीन पृथक सूचियों में किया गया है।

सातवीं अनुसूची : प्रथम सूची–केन्द्र सूची

66– उच्चतर शिक्षा या अनुसंधान संस्थाओं में तथा वैज्ञानिक और तकनीकी संस्थाओं में मानकों का समन्वय और अवधारण।[7]

इसके अतिरिक्त केन्द्र सूची की प्रविष्टी संख्या–25, 29, 62, 63, 64, 65, तथा 67 भी केन्द्र को उच्च शिक्षा, अनुसंधान, वैज्ञानिक–तकनीकी शिक्षा तथा राष्ट्रीय महत्व की उच्च शिक्षण संस्थाओं के विषय में कानून बनाने की शक्ति प्रदान करती हैं।

सातवीं अनुसूची : द्वितीय सूची–राज्य सूची

11– केन्द्र सूची की प्रविष्टी संख्या 63, 64, 65 और 66 तथा समवर्ती सूची की प्रविष्टि संख्या 25 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, शिक्षा जिसके अन्तर्गत विश्वविद्यालय हैं।[8]

सातवीं अनुसूची : तृतीय सूची–समवर्ती सूची

20– आर्थिक और सामाजिक योजना।

25– श्रमिकों का व्यावसायिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण

26– कानून, चिकित्सा तथा अन्य पेशे[9]

उपरोक्त तीनों सूचियों की प्रविष्टियों से स्पष्ट है कि शिक्षा के विषय में, जोकि विद्यालयी तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा सहित राज्यों का दायित्व था, केन्द्र की भूमिका केवल उच्च शैक्षिक संस्थाओं में शैक्षिक मानकों के निर्धारण तथा क्रियान्वयन में समन्वयन तक सीमित थी। सीधे शब्दों में, विद्यालयी शिक्षा से केन्द्र को कोई सरोकार नहीं था। वित्तीय अनुदान तथा सामाजिक–आर्थिक आयोजन के जरिये केन्द्र ने कुछ उदासीन किस्म की भूमिका का अवश्य निर्वाह करने की गुंजाइश रखी। इसका सीधा प्रभाव यह पड़ा कि अखिल भारतीय शिक्षा सेवा जोकि केन्द्रीय सेवा थी, को समाप्त कर दिया गया, क्योंकि शिक्षा राज्यों का विषय थी। यद्यपि कानून एवं व्यवस्था भी राज्य सूची के विषय थे, मगर इसी आधार पर केन्द्रीय पुलिस सेवा को भंग नहीं किया जाना, सरकारी चतुराई को इंगित करता है।

भाग ग्यारह : संघ तथा राज्यों के मध्य सम्बन्ध

अध्याय एक : विधायी सम्बन्ध

अनुच्छेद–251 अनुच्छेद 249 और अनुच्छेद 250 की कोई बात किसी राज्य के विधानमण्डल की ऐसी बनाने की शक्ति को, जिसे इस संविधान के अधीन बनाने की शक्ति उसको है, निर्बन्धित नहीं करेगी, किन्तु यदि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई गई विधि का कोई उपबन्ध संसद द्वारा बनाई गई विधि के, जिसे उक्त अनुच्छेदों में से किसी अनुच्छेद के अधीन बनाने की शक्ति संसद को है, किसी उपबन्ध के विरूद्ध है, तो संसद द्वारा बनाई गई विधि अभिभावी होगी, चाहें वह राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई गई विधि से पहले या बाद में पारित की गई हो और राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई गई विधि उस विरोध की मात्रा तक अप्रवर्तनीय

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

उपरोक्त तीनों प्रावधानों को यदि भाग 04 में ही वर्णित अनुच्छेद 37 के साथ पढ़ा जाये, तो स्थिति पूरी तरह पलट जाती है।

भाग चार : राज्य के नीति घोषण तत्व

अनुच्छेद–37 इस भाग में अन्तर्विष्ट उपबंध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं होंगे, किन्तु फिर भी इनमें अधिकथित तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा।

इन अर्थों में नीति निर्देषक तत्व जनता के प्रति राज्य के कर्तव्य हैं, तथापि वे न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय भी नहीं होंगे। वस्तुतः अनुच्छेद 37 के साथ ही नीति निर्देशक तत्वों में उल्लिखित ऐसे तमाम कर्तव्यों की नियति भी तय हो चुकी थी। संविधान सभा की बहसों में सभा के सदस्य तथा शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने के प्रखर समर्थक प्रो0 के0टी0 शाह के शब्दों में इसकी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है।

''प्रो0 के0टी0 शाह (बम्बई–सामान्य) : अनुच्छेद–29 (उपरोक्त अनुच्छेद–37) के पहले भाग से ही स्पष्ट है कि इन आदर्शों को कोई भी न्यायालय लागू नहीं कर सकता। या कहें कि, इन कानूनों को बनाने तथा इस संविधान को स्थापित करने में हमारी जो भी आशायें, अपेक्षाऐं, इच्छायें तथा लक्ष्य हैं, उनको साकार रूप देने के लिए हम जो एकमात्र सत्ता (न्यायालय) इस संविधान में स्थापित करने जा रहे हैं, वह आरम्भ से ही संविधान के इस सबसे आधारभूत रचनात्मक तथा महत्वपूर्ण अध्याय को लागू करने के दायित्व से मुक्त कर दी गई है .....यह ऐसा प्रावधान है जोकि न्यायालय तथा कार्यपालिका दोनों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करेगा कि संविधान में जो कुछ भी कहा गया है, उसकी परवाह न की जाये, बल्कि वे अपनी सुविधा तथा व्यावहारिकता के अनुसार कदम उठायें, ...उदाहरण के लिए प्रारम्भिक शिक्षा के अधिकार को ही लें, जिसे आज प्रत्येक सभ्य सरकार अपने राष्ट्र के बच्चों को प्रदान करने के लिए उद्यत है। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का यह अधिकार तक जिस आधे–अधूरे मन, संकोच तथा विद्रूपता से दिया जा रहा है, उससे किसी को भी यह आश्चर्य हो सकता है कि इस मसौदे को तैयार करने वाले क्या वाकई उस अज्ञानता के अभिशाप को दूर करने के इच्छुक हैं, जो हम पर इतने सालों से छाया है। जो प्रावधान यहाँ किया गया है, वह राज्य को महज यह अनुमति देता है, कि वह दस वर्ष के भीतर भी उस इच्छा को प्रभावी बनाने के लिए सिर्फ 'प्रयास' करेगा। यहाँ तक कि वह प्रयास 'अनिवार्य' भी नहीं होगा। ऐसा मूलभूत अधिकार, जैसा कि राष्ट्र के प्रत्येक बच्चे को प्राथमिक शिक्षा का अधिकार है, भी अनिवार्य नहीं है।

..... मेरा विश्वास है कि डा0 अम्बेडकर सहित इस सदन में ऐसे अनेक लोग मौजूद हैं, जिन्हें याद होगा कि जब स्व0 गोपालकृष्ण गोखले पहली बार अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का बिल सदन में लाये थे, तब की भारत सरकार के अधिकारियों ने ऐसे सभी कारण दिए थे कि क्यों ऐसा कदम उठाना अव्यावहारिक होगा? एक तक्र यह भी था कि प्रतिवर्ष तीस लाख रुपये के हिसाब से दस वर्ष में तीन करोड़ रुपये का व्यय ऐसा खर्च है जोकि भारत सरकार के लिए उठाना बोझ है, लेकिन इसके बावजूद चार साल के भीतर ही वे एक ऐसे युद्ध में तीन नहीं तीस करोड़ रुपये खर्च कर रहे थे, जिससे हमारा कोई लेना–देना नहीं था, तथा जिसके लिए हमसे कोई मशविरा भी नहीं किया गया। यह तब का मामला था, जब हम शक्तिहीन थे, जब हम अपने ही देश में असहाय थे। वह स्थिति आज बदल चुकी है। मेरा विश्वास है कि भारत की नई सरकार के मंत्री, भारत की आजाद सरकार के मंत्री, भारत गणतन्त्र के संसद सदस्य इन पवित्र इच्छाओं को जाहिर भर कर आराम नहीं करेंगे..... ।'

भारतीयों को जिन चुनौतियों का राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सामना करना पड़ा, उसने अनेक पुराने मुददों पर नेताओं तथा राजनीतिक दलों के दृष्टिकोण, चुनावी घोषणाओं तथा संसदीय बहसों का रूख ही बदल दिया। अव्वल तो शिक्षा का पूरा विषय ही सरकारी प्राथमिकता सूची में दीन–हीन था, उसमें भी यदि उच्च तथा माध्यमिक शिक्षा को इसलिए छोड़ दें क्योंकि सत्तारूढ़ वर्चस्वशाली वर्ग उससे सीधे लाभान्वित होने वाले थे, तो प्रारम्भिक शिक्षा का पूरा क्षेत्र ही ऐसी उदासीनता से ग्रस्त था कि उस दिशा में युद्धस्तर पर कोई भी ठोस काम 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति से पूर्व न हो सका। जबकि प्रारम्भिक शिक्षा सीधे–सीधे तृणमूल स्तर पर गरीब, शोषित तथा वंचित वर्गों के उत्थान का महत्वपूर्ण उपकरण बन सकती थी, जोकि संविधान के लक्ष्यों में शायद अनन्य था।

उपरोक्त के प्रकाश में, स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में शैक्षिक विकास को लेकर चेतना तथा क्रियान्वयन के स्तर होने वाले दृष्टिकोण परिवर्तन के बीजाणु वर्चस्वशाली सत्तारूढ़ वर्गों के राजनीतिक चरित्र तथा तृणमूल स्तर पर वर्गीय चेतना में ढूँढने होंगे।

26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ संविधान भारतीय समाज के पुनर्निर्माण की योजना का नीलपत्र है। 1950 से 1966 का कालखण्ड शीतयुद्ध से बचने, द्विध्रुवीय विश्व में निर्गुट नीति अपनाने तथा पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति अपनाने के बावजूद तीन ऐतिहासिक युद्धों पीड़ा का दौर था। शरणार्थियों तथा विस्थापितों के पुनर्वास से लेकर भारत के औद्योगिक, कृषि, व्यापारिक तथा वाणिज्यिक ढांचे को योजनाबद्ध तरीके से स्थापित करना नेतृत्व तथा नीतिकारों का लक्ष्य था। इन जटिल स्थितिओं में भारत की प्रगति तथा उन्नयन को सुनिश्चित करना आसान नहीं था।

स्वतंत्रता पश्चात शिक्षा के मौलिक अधिकार के विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिए यह जरूरी है कि उस सांविधानिक तैयारी पर नजर डाल ली जाये, जोकि भविष्य में प्रारम्भिक शिक्षा की दशा–दिशा के कुतुबनुमा की भूमिका निभाने वाली थी। प्रारम्भिक शिक्षा से जुड़ी सांविधानिक तैयारी सीधे तौर पर संविधान के भाग 04 में वर्णित राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धांतों तथा भाग 11 में वर्णित केन्द्र–राज्य संबंधों के अंतर्गत प्रथम अध्याय में वर्णित विधायी सम्बंधों तथा इसके अंतर्गत संविधान की सातवीं अनुसूची में वर्णित केन्द्र तथा राज्य सूची में प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त संविधान के कतिपय प्रावधान इस तैयारी को समझने में सहायता प्रदान करते हैं।

<u>भाग चार : राज्य के नीति निर्देशक तत्व</u>

अनुच्छेद–39 राज्य अपनी नीति का, विशिष्टतया, इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से–

(च) बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएं दी जायें और बालकों तथा अल्पवय व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाये।[180]

अनुच्छेद–41 राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर, काम पाने के अधिकार, शिक्षा पाने के और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और निःशक्तता तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओं में लोक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का प्रभावी उपबन्ध करेगा।[181]

अनुच्छेद–45 राज्य इस संविधान के प्रवर्तन में आने से 10 वर्षों के भीतर सब बच्चों के 14 वर्ष की आयु पूर्ण होने तक निशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने के प्रावधान करने का प्रयास करेगा।[182]

जनसाधारण के लिए आकर्षक माँगों जैसे अनिवार्य शिक्षा को बढ़ावा मिला। संक्षेप में, इससे मताधिकार, प्रतिनिधित्व तथा विभिन्न अधिकारों की माँगों में एक ही दिशा बोध हुआ वर्गों से जनसामान्य की ओर (from classes to masses)। इसलिए 1929 की नेहरू रिपोर्ट तथा 1931 के कराची अधिवेशन में स्वीकृत मौलिक अधिकारों के ड्राफ्ट में शिक्षा को भी स्थान मिला, किन्तु संविधान सभा में शिक्षा के अधिकार के छदम माँगकर्ताओं ने ही इसे सिरे से खारिज कर दिया।

शिक्षा का मौलिक अधिकार समाज के जिन तबकों तथा समूहों की वास्तविक आवश्यकता था, वे प्रतिनिधित्व तथा मताधिकार दोनों से वंचित थे तथा चेतना के स्तर पर वे न तो इस अधिकार से और न ही इसके सशक्त महत्व से परिचित थे। शायद डॉ0 अम्बेडकर भी इसका महत्व भाँप नहीं सके थे। जबकि इसके परम्परागत छद्म माँगकर्ताओं ने अपनी राजनीतिक लिप्सापूर्ति होते देख शिक्षा के अधिकार को ही ऐजेंडे से निकाल बाहर किया और इस मुददे पर अगले 50 वर्षों के लिए चुप्पी छा गयी। ब्रिटिश शासनिक तथा प्रशासनिक अभिजात्य के स्थानापन्न के रूप में सत्ता संभालने वाले नवीन भारतीय अभिजात्य वर्ग को शिक्षा के महत्व तथा राजनीतिक–आर्थिक शक्ति का भलीभांति एहसास था। वे यथास्थिति बनाये रखना चाहते थे, ताकि उनका राजनीतिक वर्चस्व बना रहे। कुल मिला कर, सत्ता प्राप्त करने के साथ ही वे उस वैचारिक विरासत/दायभाग के संपोषक बन गए, जिसका कि वे कुछ ही समय पहले तक जी जान से विरोध कर रहे थे। अब वे स्वतंत्र भारत में विभिन्न माँगों के पूर्तिकर्ता वर्चस्वशाली वर्ग थे तथा विभिन्न माँगों को टालना और अनदेखी करना उनके राजनीतिक चरित्र का अनिवार्य अंग बन गया था।

आजादी के बाद शिक्षा के मौलिक अधिकार के विकास की दशा–दिशा आजादी से पहले की स्थितियों की तुलना में लगभग हर लिहाज से नाना प्रकार के विरोधों तथा विसंगतियों से सम्पृक्त थी। यदि तत्कालीन राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम पर नजर डालें, तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर द्वितीय विश्व युद्ध से उबरने में लगे विश्व में जहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व शान्ति तथा मानवता की रक्षा में उसके प्रयत्न आकार ले रहे थे, वहीं आणविक शक्ति सहित वैज्ञानिक–तकनीकी विकास की तीव्रता ने गुटबाजी और शीतयुद्ध का तनाव बढ़ा रखा था। उपनिवेशवाद का विघटन तृतीय विश्व के निरीह राष्ट्रों का जन्मदाता था। इधर, राष्ट्रीय जीवन में गुटबाजी के परे विकास के मद्देनजर निर्गुट तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की पंचशील की विदेश नीति, सामाजिक–आर्थिक पुनर्निर्माण तथा परिवर्तन को संभव बनाने वाली ऊर्जा थी। विभाजन, अकाल, खाद्यान्न समस्या, विस्थापितों का पुनर्वास, युद्धों की बाध्यता, राज्यों का पुनर्गठन तथा प्रशासन तथा भारत का समग्र एकीकरण दिन–प्रतिदिन के राजनीतिक जीवन को मथ रहे थे।

इन हालातों के बावजूद भारतीय संविधान जनता को ऐसे व्यापक मौलिक अधिकार प्रदान करने में सफल रहा, जिनमें से अधिकांश का उल्लेख मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में भी काफी समय बाद जाकर 10 दिसम्बर 1964 को हुआ।[6] सार्वभौमिक तथा वयस्क मताधिकार पर आधारित प्रतिनिध्यात्मक संसदीय लोकतंत्र स्थापित हो चुका था, जिसकी प्रकृति बहुदलीय थी। यद्यपि मौलिक कर्तव्यों का विचार दूर–दूर तक नहीं दिखता था। परन्तु अधिकार, मताधिकार और प्रतिनिधित्व के मुद्दे सुलझ चुके थे। लोकतंत्र को राष्ट्र की जीवन शैली के रूप में स्थापित करना एक कठोर चुनौती था।

'पराये राज' में नेतृत्व से लेकर तृणमूल स्तर तक जो मुद्दे गंभीर तथा संवेदनशील हुआ करते थे, उनकी धार और चमक फीकी पड़ने लगी थी। 'अपने राज' में

स्वयं ब्रिटेन में संसदीय लोकतंत्र अपने अधिकाधिक प्रतिनिध्यात्मक चरित्र को विकसित करने के राजनीतिक दबाव से गुजर रहा था। वहीं, न तो ब्रिटिश संसद भारतीयों की प्रतिनिध्यात्मक संस्था थी और न ही भारत में किसी किस्म के निर्वाचन की शुरूआत 1909 तक हो सकी थी।

उपनिवेशों में विकसित हुई शिक्षा व्यवस्था का सामान्य चरित्र–चित्रण करते हुए अटबैक तथा कैले ने कहा कि, *''उपनिवेशों में जो विद्यालय उभरे, वे उपनिवेशकों की शक्ति तथा जरूरतों को प्रतिबिम्बित करते थे। वहाँ एक छोटा सा अभिजात्य शिक्षा क्षेत्र होता था (जिसका ब्रिटेन के पब्लिक स्कूल प्रतिनिधित्व करते हैं), जो सुसंस्कृत लोगों पर फबने वाली शिक्षा प्रदान करता था तथा बहुसंख्यक जनता को एक प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था के द्वारा साक्षरता और अभिकलन के कौशल के मूलभूत निर्देश दिये जाते थे। कभी–कभी अवसर की समानता के संकेत रूप में प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था के सबसे सक्षम लोगों को अभिजात्य शिक्षा क्षेत्र में भी अवसर दिया जाता था। संक्षेप में, उपनिवेशकों के बच्चों के लिए अभिजात्य शिक्षा, बेहतर देशी आबादी को अंग्रेजी में प्रारम्भिक शिक्षा, जिससे उन्हे औपनिवेशिक प्रशासन में मदद के लिये नियुक्त किये जा सके तथा जनसामान्य को स्थानीय भाषा में दी जाने वाली अल्पकालिक वर्नाक्यूलर शिक्षा[4]।*

इस विभेदीकृत शैक्षिक ढांचे के बावजूद अंग्रेजों ने निस्यंदन सिद्धांत के अनुरूप ''कुछ भारतीयो को थोड़ी शिक्षा'' प्रदान करने का जो अभियान चलाया, उसी ने आगे चलकर अधिक शिक्षा देने की माँग को जन्म दिया तथा ऐसे माँगकर्ता समाज के नेतृत्वकर्ता के रूप में उभरे। इन्हीं माँगकर्ताओं ने धीरे–धीरे इसकी माँग सभी के लिये की तथा अंततः इसे एक अधिकार के रूप में माँगा। अनुसूचित जातियों, जनजातियों, महिलाओं तथा विकलांगों की शिक्षा के विकास–विस्तार पर यह बात सटीक सिद्ध होती है।[177] हालांकि वर्गीय माँग का सार्वभौमिक माँग में तब्दील हो जाना इतना रैखिक तथा एकांगी भी नहीं था। एक शासनतंत्र के रूप में लोकतंत्र का मुख्य आधार मताधिकार का तब तक विस्तार है, जब तक कि प्रत्येक वयस्क को मताधिकार प्राप्त न हो जाए, ताकि वे जनता में निहित राजनीतिक शक्ति के प्रयोग में सक्षम हो सकें। ऐसे निर्वाचित प्रतिनिध्यात्मक तंत्र में शिक्षित नागरिक ही लोकतंत्र को सफल बना सकते हैं। दूसरे शब्दों में, मताधिकार के विस्तार के चलते, जोकि प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र का आधार था, सार्वभौमिक शिक्षा की माँग स्वतः ही उत्पन हुई।[5]

1909 के मार्ले–मिण्टो सुधारों के बाद प्रतिनिध्यात्मक शासन प्रदान करने का गतिरोध टूटना शुरू हुआ तथा आधा–अधूरा ही सही पर मताधिकार का दायरा बढ़ा, जिससे गोखले बिल को आवश्यक ऊर्जा मिली। आगे 1919 तथा 1935 में शासन के प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप तथा मताधिकार के विस्तार के प्रकाश में विभिन्न अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों का उद्विकास देखा जा सकता है। किन्तु जब भारत की संविधान सभा में ब्रिटिश शासन की नीतियों के विरुद्ध शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने का प्रश्न उठाया गया, तो ब्रिटिश शासनकाल के दौर की भारत की सबसे श्रेष्ठ प्रतिनिध्यात्मक संस्था में यह विचार ही रफा–दफा या यूं कहें कि खारिज कर दिया गया।

औपनिवेशिक शासन में प्रतिनिध्यात्मक सरकार तथा मताधिकार के विस्तार का लाभ सीधे–सीधे उच्च वर्गों, धनाढ्यों तथा उच्च शिक्षितों को प्राप्त हुआ, जिनके राजनीतिक अस्तित्व तथा वर्गीय माँगों के पक्ष में सरकार पर दबाव बनाने के लिए मताधिकार के विस्तार तथा उस पर पकड़ बनाये रखने के लिए आकर्षक मुद्दों की महती आवश्यकता थी। जिससे विभिन्न अधिकारों की वर्गीय माँगों के साथ–साथ

स्वयं ब्रिटेन सहित यूरोप, अमेरिका आदि के विपरीत जहां अधिकारों की माँग का सृजन विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं तथा संगठनों के क्रमिक विकास के साथ–साथ सहज ही विकसित हुआ, भारत में शिक्षा सहित विभिन्न अधिकारों का उद्विकास बेहद कृत्रिम तथा समुचित राजनीतिक और संस्थागत आधार के बगैर हुआ। भारतीयों द्वारा अपने राजनीतिक अधिकारों की चर्चा शुरू भी न हो सकी थी तथा कम्पनी और मिशनरियों के शैक्षिक प्रयास आकार भी ग्रहण न कर पाये थे, कि ब्रिटिश संसद ने 1810 में शिक्षा के विषय को अधिगृहित तथा विनियमित कर इसे पहली बार राजकीय दायित्व के रूप में चिन्हित कर लिया।

तत्कालीन भारतीय समाज में विभिन्न अधिकारों की माँग उत्पन्न होने के लिए जिस विशिष्ट सामाजिक, राजनीतिक तथा शैक्षिक चेतना एवं सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और संगठनों के विकसित होने की स्वाभाविक आवश्यकता थी, उनके उदय से शायद काफी पहले ही ब्रिटिश संसद ने कम्पनी से शिक्षा का दायित्व ले लिया। बल्कि संसद ने एक कदम आगे जाकर भावी भारतीय संविधान में प्रदत्त समानता के अधिकार को प्राक्रूप में स्वयं ही प्रदान कर अधिकारों की माँग के सृजन की सशक्त पहल की। आगे चलकर 1844 में लॉर्ड हार्डिंग के मिनिट्स के जरिये अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा की माँग को बाध्यतापूर्ण तीव्रता प्रदान की गई। इस विलक्षण स्थिति की रोचकता इस बात से और भी बढ़ जाती है कि भारतीयों को किसी भी किस्म का प्रतिनिध्यात्मक शासन प्रदान करने का सुझाव संसद ने 1833 में ही अपरिपक्व कह कर खारिज कर दिया था। उधर कम्पनी स्वयं भी उस किस्म के राजनीतिक संगठन, वैचारिक ध्रुवीकरण तथा संगठित राजनीतिक गतिविधियों को जन्म देने में असमर्थ रही, जिसका विकास गदर के बाद ब्रिटिश संसद के प्राधिकार के चलते भारत में हुआ।

इन अर्थों में, 1857 का गदर कम्पनी शासन के विरूद्ध परम्परागत भारतीय राजनीतिक संगठन, वैचारिक ध्रुवीकरण तथा संगठित राजनीतिक गतिविधियों का संभवतः अंतिम देशी उदाहरण था। जिसका स्थान आगे चलकर यूरोपियन किस्म के लोकतत्रं की अनुपूरक राजनीतिक–वैधानिक संस्थाओं ने लिया तथा जिसका नेतृत्व नवशिक्षितों तथा नव धनाढ्यों ने किया। यद्यपि कुछ किस्म की सामाजिक–राजनीतिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव कम्पनी शासन में भी हुआ, तथापि उनमें लोकविश्वास तथा लोकमत का विकास संसदीय शासन की पुष्टि के बाद तीव्रता से हुआ।

संक्षेप में, लोकतंत्र यदि वह किन्हीं भी मायनों में गदर के बाद संसदीय नियंत्रण में भारत में स्थापित हुआ था, के अनुकूल तथा अनुरूप राजनीतिक गतिविधियों की सुगबुगाहट संसदीय शासन के चलते ही आरम्भ हो सकी। तब तक उस भारतीय शिक्षित वर्ग का प्रादुर्भाव ऐसा अवश्य होने लगा था, जोकि संसदीय शासन में आस्थावान, विभिन्न संगठित राजनीतिक गतिविधियों के प्रति उत्साही, विभिन्न अधिकारों की माँग को आकार देने तथा लोकतंत्र के अधिकाधिक विस्तार को संभव बनाने के लिए प्रयत्नशील था। 1869 की रानाडे तथा जैम्स मैक्लीन की शिक्षा के अधिकार की माँग को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

यह जानना रोचक हो सकता है कि विक्टोरिया के 1858 के घोषणापत्र की आशाओं से ओतप्रोत भारतीय परिवर्तनों तथा विभिन्न अधिकारों, जिनमें शिक्षा भी शामिल थी, की अपेक्षा तो कर रहे थे, मगर बिना किसी प्रतिनिध्यात्मक शासन के। वस्तुतः अधिकारों की प्राप्ति का मार्ग प्रतिनिधित्वकारी शासन से होकर गुजरता है। गदर के बाद ब्रिटिश संसद का भारतीय शासन केवल उसी सीमा तक लोकतांत्रिक चरित्र रखता था, जिस सीमा तक प्राधिकार ब्रिटिश संसद जैसी लोकतांत्रिक संस्था के हाथों में था। जबकि

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

जोकि राज्य को व्यक्ति के लिए अनिवार्यतः करना चाहिए। विभिन्न माँगों के अधिकार रूप में परिणत हो जाने की प्रक्रिया का एक दूसरा प्रबल पक्ष यह है कि इन माँगों का पूर्तिकर्ता कौन है? माँगकर्ता समूहों की भांति प्रत्येक समाज में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक रूप से सक्षम तथा राजनीतिक रूप से विशेषाधिकार प्राप्त एक वर्चस्वशाली वर्ग विद्यमान होता है, जिसका चरित्र शासकीय होता है तथा इन माँगों को पूरा करने का दवाब उसी पर पड़ता है।

मार्क्स तथा ऐंजिल्स के विचार में संप्रभु विचार और कुछ नहीं वर्चस्वशाली भौतिक संबंधों की आदर्श अभिव्यक्ति मात्र होते हैं। 'किसी समाज में शासक समूह न केवल समाज के भीतर उत्पादनकारी शक्तियों, बल्कि सोचने–समझने के तरीकों को भी नियंत्रित करता है। क्या सही तथा स्वीकार्य है? वे न केवल इसे वैधता प्रदान करते हैं, बल्कि उस ढाँचे को भी उपलब्ध कराते हैं, जिसमें कोई विचार संभव होता है।[2] किसी समाज के ऐसे संप्रभु शासक ही अधिकारों के पूर्तिकर्ता वर्ग की भूमिका निभाते हैं। अपने स्वयं के राजनीतिक वर्चस्व के चलते ही वे दूसरों को मिलने वाले अधिकारों की सीमा रेखा निर्धारित करते हैं। वस्तुतः किसी भी माँगकर्ता समूह की माँगों की अधिकार रूप में परिणति का सीधा अर्थ वर्चस्वशाली वर्गों के अधिकारों में कटौती तथा दायित्वों में वृद्धि से है।

लोकतांत्रिक समाजों में राजनीतिक वर्चस्व की स्थापना का एक प्रमुख आधार व्यापक मताधिकार तथा व्यापक प्रतिनिधित्व है, जोकि पहले राजनीतिक तथा फिर क्रमशः आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों का मार्ग प्रशस्त करता है। किसी समाज में विभिन्न अधिकार पहले–पहल समाज के सबसे सक्षम तथा राजनीतिक प्रतिनिधित्वकारी प्रभावशालियों को मिलते हैं। फिर वे उत्तरोत्तर उन लोगों तथा समूहों को प्राप्त हो पाते हैं, जो चेतना के किसी स्तर पर आकर इनकी उत्तरोत्तर संगठित माँग करते हैं।

पियरे बोरद्यू को प्रतिनिधित्व करते हुए दुर्खीम ने कहा कि, *''शैक्षिक रूपांतरण हमेशा उस सामाजिक रूपांतरण का परिणाम तथा लक्षण होते हैं, जिनके संदर्भ में उनकी व्याख्या की जाती है।''*[1] इन मायनों में मौलिक अधिकार के रूप में शिक्षा के विकास का इतिहास भारत में अपनी प्रकृति तथा चरित्र दोनों ही दृष्टियों से अनूठा है। इसे सीधे–सीधे इस प्रश्न का उत्तर खोजने की प्रक्रिया के माध्यम से समझा जा सकता है–

''क्या प्रतिनिध्यात्मक सरकार तथा जनशिक्षा के मध्य कोई सहसंबंध है?''

इसे एक संयोग कहें या अनिवार्य शर्त कि कानून के शासन की स्थापना तथा कानूनों के संहिताकरण ने भारत और अमेरिका[3] दोनों ही जगह कर्तव्यनिष्ठ तथा आदेशपालक जनता व समाज के निर्माण की जरूरत को उत्पन्न किया। इसी जरूरत को पूरा करने के साधन के रूप में आधुनिक कही जाने वाली शिक्षा के विधायीकरण के बीजाणु छिपे थे। भारत में मैकाले एक साथ दण्ड–संहिता निर्माता तथा शिक्षा के दिशा निर्धारक के रूप में उभरा। यूरोपियन किस्म की शिक्षा की राज्य पोषित व्यवस्था का आरोपण प्रशासनिक या राजकीय माँग भले ही रहा हो, आम आदमी ने इसकी माँग कभी नहीं की। इसलिए भारत के विशेष संदर्भ में, जहां शिक्षा व्यवस्था राजकीय नियंत्रण से मुक्त चली जा रही थी, इसका विशेष स्वागत नहीं हुआ। वास्तव में राज्य का विरोध न करने वाली प्रजा के विक्टोरियाई मूल्य की प्राप्ति को ऐसी शिक्षा से पाने का प्रयास किया गया, जोकि न केवल प्रतिरोध को आज्ञापालन मे तब्दील कर सके, बल्कि लोगों में प्रतिरोध की इच्छा को ही नष्ट कर दे। हालाँकि हुआ इसका ठीक उल्टा। यूरोपियन शिक्षा ही लम्बे समय से चली आ रहे प्रतिरोध का बायस बनी।

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

औपनिवेशिक शासन में शिक्षा के मौलिक अधिकार का विकास

डॉ0 अतुल कुमार शुक्ला,
एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षक–शिक्षा विभाग
पं0 जे0 एन0 पी0जी0 कॉलेज, बांदा, उ0प्र0

औपनिवेशिक शासन के दौरान शिक्षा के मौलिक अधिकार के रूप में विकास की प्रक्रिया का 6 चरणों में अध्ययन करने के पश्चात यह विहगावलोकन इस चर्चा के सामयिक समेकन का ऐसा प्रयास है, जिससे कि ऐसे ढांचे या पैटर्न को पहचाना जा सके; जोकि औपनिवेशिक शासन के दौरान शिक्षा के मौलिक अधिकार के रूप में विकास कि प्रक्रिया की कार्यकारणमूलक सरलीकृत व्याख्या करता हो तथा जिसकी प्रायोगिकता का विस्तार स्वतन्त्र भारत मे शिक्षा के मौलिक अधिकार के रूप में विकास की प्रक्रिया तक किया जा सके। तथापि इस बात से इंकार नही किया जा सकता कि ऐसे सरलीकृत सामान्यीकरण को भारत कि विशिष्ट परिस्थितियों को देखते हुए प्रायोगिकता के स्तर तक सार्वभौमिक रूप से विस्तारित करना मुश्किल होगा।

अधिकार शब्द अंग्रेजी भाषा के Wrong (अनुचित) का विलोम Right (उचित) है। अधिकार किसी समाज के संदर्भ में उसके न्याय विषयक विचारों की साकार अभिव्यक्ति है। किसी समाज की न्याय विषयक अवधारणा उस समाज के विभिन्न वर्गों आदि में विद्यमान पारस्परिक शक्ति संतुलन को प्रतिबिंबित करती है। दूसरे शब्दों में अधिकारों को लेकर होने वाले परिवर्तन किसी समाज में शक्ति संतुलन की प्रक्रिया के द्योतक होते हैं।

अधिकार व्यक्ति या व्यक्ति समूह की ऐसी माँगें हैं, जिन्हे समाज स्वीकार करता है तथा राज्य का कानून मान्यता प्रदान करता है। राज्य स्वयं इन माँगों का निर्माण नहीं करता बल्कि इन्हे केवल स्वीकार करता है तथा इनकी पूर्ति न हो पाने की स्थिति में न्यायपालिका से क्षतिपूर्ति कि माँग की जा सकती है। कोई माँग अधिकार के रूप में परिणित हो सके, इसकी कुछ पूर्व शर्तें हैं, जैसे किसी माँग का होना, माँगकर्ता समूह की समाज में पृस्थिति (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक) इत्यादि। किसी भी समाज में विभिन्न माँगकर्ता समूह किसी न किसी रूप में सदैव रहते हैं। तथापि किस माँगकर्ता समूह की माँगें मान ली जायेंगी, यह उस समूह की समाज में विशिष्ट स्थिति पर निर्भर करता है। माँग जितनी ही संगठित होगी, उतनी ही प्रभावी होगी। वस्तुतः यह किसी माँगकर्ता समूह के प्रबल राजनीतिक दलीय अथवा हित या दबाव समूह के स्वरूप का प्रश्न है। किसी माँग के संगठित तथा प्रभावी होने का अर्थ है, उसका व्यापक जनाधार जोकि व्यापक मताधिकार पर टिका है। कमोबेश इससे व्यापक वर्गीय (वर्चस्वशाली) हित पोषण प्राप्त करते हैं। इसकी परिणति व्यापक प्रतिनिधित्व के रूप में होती है, जिससे विस्तृत अधिकारों की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

यहां यह बात दीगर है कि अधिकारों की प्राप्ति की श्रृंखला में पहले राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति महत्वपूर्ण है, जोकि उत्तरोत्तर सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक माँगों को जन्म देती है, तथा तद्विषयक अधिकारों की प्राप्ति का मार्ग बनाती है। वास्तव में उदारवादी चिंतकों ने भी अधिकारों के विकास के सिद्धांत की प्रक्रिया में पहले सिर्फ राजनीतिक अधिकारों को ही प्राथमिकता दी। जबकि विभिन्न सामाजिक–आर्थिक अधिकारों पर गंभीरतापूर्वक कोई विचार द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामों के आने के बाद ही किया जा सका। आज यह सिद्धांत सिर्फ अधिकार ही नहीं, उसकी सुरक्षा के संवैधानिक उपाय भी सुझाता है। बल्कि इसके भीतर वह सब कुछ आ जाता है,